

**TEXT PROBLEM  
WITHIN THE  
BOOK ONLY**

UNIVERSAL  
LIBRARY

**OU\_182439**

UNIVERSAL  
LIBRARY







# अनंत के पथ पर

श्री हरिकृष्ण “प्रेमी”

वाणी-मंदिर,  
१०, अस्पताल रोड, लाहौर ।

प्रकाशक  
श्रीमती बैकुण्ठी देवी,  
बाण्णी-मंदिर,  
लाहौर ।

मूल्य २)

मुद्रक  
ला० खुशहालचन्द 'आनन्द'  
वीर मिलाप प्रेस,  
लाहौर ।

## द्वितीय-संस्करण के अक्षर पर

‘अनन्त के पथ पर’ के प्रथम संस्करण को समाप्त हुए कई वर्ष हो चुके हैं। युद्ध ने कागज दुर्लभ कर दिया। बार बार इच्छा करने पर भी इसे दुबारा प्रकाशित किया ही नहीं जा सका। अब भी अपनी नवीन रचनाओं का प्रकाशन रोक कर ‘अनन्त के पथ पर’ पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहा हूँ।

पिछले वर्षों में मेरे जीवन में ऐसे ऐसे तूफान आए, जिन्होंने मेरी कोमल भावनाओं और काव्यमय कल्पनाओं को, नम्र वास्तविकता की चट्टानों पर पटक-पटक कर कठोर कर दिया। मेरा ‘अग्निगान’ कविता-संग्रह उन्हीं तीक्ष्ण घड़ियों की अनुभूतियों की उपज है। लेकिन आज अपने जीवन की अपेक्षाकृत शांत घड़ियों में मुझे ज्ञात होता है कि रोष, असंतोष और संहार स्थायी मंगल का मार्ग नहीं हैं, जीवन में उनका स्थान है, स्वाभाविक और उपयोगी, किन्तु स्थायी शांति का साधन वे नहीं हैं। वास्तविक सुख-शांति के लिए तो आत्म-ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है।

केवल जोश से जिस साहस की उत्पत्ति होती है—उसे नैसर्गिक वीरता नहीं कहा जा सकता। ऐसा नशा आता है—और चला भी जाता है। वह जीवन को—जाति को—राष्ट्र को एक क्षेत्र में जितना आगे ले जाता है दूसरे क्षेत्र में उससे कहीं ज़्यादा पीछे भी धकेल देता है। वास्तविक वीरता

वही है जिस की उत्पत्ति आध्यात्मिकता से है—आत्मा के अमर और व्यापक स्वरूप के ज्ञान से है ।

महात्मा गाँधी की राजनीति का आधार आध्यात्मवाद ही है । आत्मा की वास्तविक शक्ति को हम समझें तो हम, शस्त्रहीन रहकर भी, बीसवीं सदी के सब प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित विदेशी शक्ति से जूझ कर अपने देश को स्वाधीन बना सकते हैं ।

हमारा दृष्टिकोण संकुचित हो गया है । स्वार्थ, मोह और अदूरदर्शिता ने हमारे जीवन में घर कर लिया है । हमारी कायरता हमारी पीढ़ियों को भी बंधनों में कस रही है । यदि हमारी दृष्टि जरा विस्तृत होती—वर्तमान को भेदकर भविष्य में भी झाँक पाती—तो कदापि हम देश-द्रोह न कर पाते । भविष्य-दर्शी बनने के लिए भी हमें आध्यात्म की आवश्यकता है ।

संसार को चिर-शांति इंग्लैण्ड, अमेरिका और रूस के अधिपतियों से नहीं मिल सकती । ये लोग जीवन के वारतविक मूल्य को नहीं समझते । भौतिकवाद ने उन्हें उदुभ्रान्त बना रखा है । वे संसार के मसीहा बनने का स्वांग रचकर हिंसा की महा ज्वाला में संसार को भोंक रहे हैं । अष्टम बम को हाथ में लेकर 'भस्मासुर' की भाँति ये अपने वर-दाता को ही भस्म करने को भाग रहे हैं । इन भस्मासुरों को 'महात्मा गाँधी'—भोले बाबा के चरणों में बैठकर आत्मा के स्वरूप और बल का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । जिस दिन ये जान पाएँगे कि सब भूतों में एक ही आत्मा है—उस दिन

बार संशोधित और परिवर्धित होकर ही सर्वसाधारणके सामने उपस्थित होती थी। इससे कभी कभी तो उनकी रचनाका कोई कोई अंश सर्वथा नूतन आकार धारण कर लेता था। इस काममें वे अपने सहृदय और साहित्यसेवी मित्रोंसे बार बार परामर्श लेते थे। खेद है कि इस नाटकको संशोधन परिवर्तनादिका उक्त सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है और यह उनके स्वर्गवासके कोई दो वर्ष बाद, जिस अवस्थामें मिला उसी अवस्थामें, प्रकाशित कर दिया गया है; फिर भी इसकी गणना बंगालके श्रेष्ठ सामाजिक नाटकोंमें है और सुना है कि कलकत्तेके मिनर्वा थियेटरमें यह 'उसपार' से भी अधिक सफलताके साथ खेला जाता है। यह कहनेकी अवश्यकता नहीं कि यदि इसका संशोधन भी द्विजेन्द्रबाबूके हाथसे हो गया होता, तो यह और भी अधिक चमक उठता और सामाजिक नाटकोंमें यह बेजोड़ नाटक कहलाता।

इस नाटकके सम्बन्धमें ग्रन्थकर्ताके परम श्रद्धाभाजन श्रीयुक्त प्रसाददास गोस्वामी महाशय मूलग्रन्थकी भूमिकामें लिखते हैं कि—  
 “वर्तमान समयके सबसे बढ़कर गुरुतर आन्दोलनके सम्बन्धमें विचार करना ही इस सामाजिक नाटकका उद्देश्य है। आजकल दहेजकी प्रथाको लेकर केवल बंगालमें ही नहीं, अन्य प्रान्तोंके हिन्दुओंमें भी घोर हलचल मर्चा हुई है। इस प्रथाके विषयमें द्विजेन्द्रका जो अभिमत था उसका भी सारांश इस नाटकके पात्रोंके मुँहसे कहलाया गया है। सदानन्दकी बातोंका अधिक अंश स्वयं ग्रंथकारका ही अभिमत है। अपनी देवचरिता स्त्रीके वियोगके बाद द्विजेन्द्रलालने यह बात कई बार कही है कि 'मैं अब हँसीके गाने नहीं गाता—अच्छे नहीं लगते।' सदानन्दने भी एक जगह ये ही वाक्य कहे हैं। सदानन्द विलायत हो आनेवाला सरल, उदार, महत्, सच्चरित्र और पराये दुःखमें सहानुभूति दिखलानेवाला है—द्विजेन्द्र भी ठीक यही चीज थे। कविने सदानन्दके मुँहसे ही अपने विचार प्रकट किये हैं।

“पण-प्रथाके संबंधमें उनकी राय यह थी कि यह प्रथा चाहे जितनी बुरी या निन्दाके योग्य क्यों न हो, और इसे उखाड़ फेंकनेके

लिए कोई चाहे जितनी कोशिश क्यों न करे, पर यह नेस्त-नाबूद नहीं हो सकती। जहाँ कन्याका ब्याह एक निर्दिष्ट अवस्थामें ही कर डालना जरूरी है, मगर पुत्रके ब्याहके लिए वह नियम नहीं है; जहाँ उपयुक्त पात्र बहुत नहीं, लेकिन कन्याओंके बापोंमें खूब प्रतियोगिता चलती है; जहाँ धर्मका बंधन शिथिल हो गया है, समाज अभिभावकहीन बालककी तरह उच्छृंखल है, देशमें धनका अभाव है, मगर विलासकी बहिया बेढब तौरसे बढ़ रही है; जहाँ पहलेकी तरह अब जाति कुल-शाल-गुण आदि बातोंपर लोगोंका अधिक लक्ष्य नहीं है, जहाँ लोगोंकी दृष्टि बारह आने धनके ऊपर और चार आने कन्याके रूपपर है—और सो भी इस लिए कि उस ( कन्या ) के कुरूपा कन्यायें उत्पन्न होंगी और तब उनका ब्याह मुश्किलसे होगा—वहाँ, उस देशमें, पण-प्रथा जब प्रबल हो चुकी है तब उसे बिल्कुल उठा देना, बहुत ही कठिन काम है। देखा जाता है कि जो लोग दहेजकी चालकी निन्दा करते हैं, उन्हींमेंसे अनेक लोग पुत्रके ब्याहके समय दूसरा रूप धारण कर लेते हैं। मुखसे तो कह देते हैं कि ' मैं कुछ नहीं माँगता, लेकिन अभी पुत्रके ब्याह करनेका इरादा ही नहीं है ' और लड़कियोंके गरीब बापोंको टाल देते हैं, लेकिन उसके बाद ही देखा जाता है कि लड़कीके अमीर बापको पाते ही उनका मत एकदम बदल जाता है। कोई कोई तो समधीका घरबार बिकवाकर भी पुत्रके ब्याहमें अतिशबाजी छुड़ाने, रंडी नचाने और बैंड बजवानेमें संकोच नहीं करते। लेकिन हाँ, ये काम अत्यन्त नरपिशाचोंके हाथसे ही होते हैं। मतलब यह कि पण-प्रथाका मिटना सहज नहीं देख पड़ता।

“ तो फिर इस दरिद्र देशमें कर्तव्य क्या है ? इस बारेमें ग्रन्थकारने स्थूल रूपसे एक उपायका आभास दिया है। वे कहते हैं, पहले तो बाल्याविवाहसे इस देशपर भयानक विपत्ति आई है। जिस देशमें अन्नका अभाव दिन दिन प्रबल रूपसे बढ़ रहा है, उस देशमें न कमा सकनेवाले और विद्यार्थी-जीवनवाले लोग ब्याह करके गरीबोंकी गिनती क्यों बढ़ाते हैं ? कन्याको सयानी करके, लिखना-पढ़ना सिखकर

## प्रथम संस्करण का प्रवेश

आज जब मैं 'अनंत के पथ पर' का प्रवेश लिखने बैठा, तो स्वयं इस बात पर विश्वास नहीं कर सका कि इस पुस्तक को लिखे ६ वर्ष से भी अधिक समय बीत गया है। संसार कहता है, 'समय और पैसा' ये दो बहुमूल्य वस्तुएँ हैं, और मनुष्य इनके हिसाब में कभी भूल न करे। दुर्भाग्य से मैं इन दोनों की कद्र न कर सका और इनका हिसाब भी न रख सका। अपरिचित व्यक्तियों की भॉति ये मेरे पास आए हैं और मुझ से आदर-सत्कार न पाकर लौट भी गए हैं।

'अनंत के पथ पर' की एक हस्त-लिखित प्रति सन् १९२६ में अजमेर सेंट्रल जेल के राजनीतिक बंदियों के पढ़ने के लिए मैंने भेजी थी। आज भी 'त्यागभूमि' के संपादक श्री हरिभाऊ उपाध्याय का यह वाक्य—जो उन्होंने जेल से लिख भेजा था—मुझे याद है—'प्रेमी जी, आपकी 'अनंत के पथ पर' पुस्तक का जेल में गीता की तरह पाठ होता है। इसमें कविता भी है और आध्यात्मिक ज्ञान भी है।' मेरे आदरणीय सगे भाई श्री गोपीकृष्ण विजयवर्गीय को मेरी इस पुस्तक पर नाज रहा है और उन्होंने भूम-भूम कर इसे पढ़ा है और बहुतों को सुनाया है। मैं उनके उस तन्मय-भाव को देख कर गद्गद होता रहा हूँ।

परिश्रम मेरे पास से होकर नहीं गुजरा—पांडित्य मुझसे कोसों दूर है। जो कुछ मैं लिख जाता हूँ, उसे जब मैं स्वयं पढ़ता हूँ, तो मुझे आश्चर्य होता है, कि यह सब कहाँ से आया—सांसारिक प्रेम की बात यहाँ नहीं कहता, उसके घात-प्रतिघात मैंने पर्याप्त सहे हैं, और उनसे प्रभावित होकर भी मैंने कविताएँ लिखी हैं, किंतु यहाँ-मैं आध्यात्मिक जगत की बात कह रहा हूँ। वह दुनिया कैसी है—यह न मुझे पुस्तकों से ज्ञात हुआ, न व्यक्तिगत साधना से और साधना तो मैं कर ही कहाँ पाया। 'कर्मवीर' के तेजस्वी संपादक पंडित माखन-लाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय-आत्मा', मेरे आदरणीय मित्र श्री रामनाथ 'सुमन', बन्धुवर श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' और मान्य बहन कुमारी लज्जावती आदि ने जब मुझ से कहा है कि इस पुस्तक में 'उपनिषदों' की झलक है—अत्यन्त सरल और सरस—तो मुझे वास्तव में आश्चर्य हुआ है। कहाँ उपनिषद, कहाँ मेरा काव्य ?

उपनिषदों का मर्म समझने का मैं दावा नहीं करता लेकिन मुझ मूढ़ को इस बात की जिज्ञासा अवश्य रही है कि यह जानूँ कि 'ईश्वर' नाम की चीज क्या है ? उस समय मैं दो-ढाई साल का था, जब मेरी जननी मुझे इस पृथ्वी पर पटक कर न जाने किस दुनिया में चली गई। ज्यों-ज्यों मैं बड़ा होता गया, होश संभालता गया, मेरे हृदय में इस प्रकार की आकांक्षा तीव्र होती गई कि कोई मुझे खूब ही प्यार करे। मेरी इस प्यास को कोई शांत न कर सका।

अनेक निराश क्षणों में मैंने अपने आपको किसी अदृश्य शक्ति के चरणों में समर्पित कर दिया है और उससे मुझे बल प्राप्त हुआ है। घने अन्धकार में, मेरे शून्य जीवन ने बौह फैला कर, 'महाशून्य' का आर्लिगन करना चाहा है। संध्या, उपासना, पूजा और पाठ से मैं सदा ही दूर रहा हूँ, किन्तु किसी 'अदृश्य' की याद में मैं रात-रात भर अश्रु अवश्य बहाता रहा हूँ। तरतीब के साथ, मैंने अपने जीवन में कोई कार्य नहीं किया—उपासना भी नहीं।

वह है या नहीं, यह तो मैं आज भी नहीं जानता। यदि वह नहीं है तो भी मैं उस 'नहीं' को आकार देना चाहता हूँ। मेरी माँ मुझे दो-ढाई वर्ष का छोड़ कर चली गई थी—तब से आज तक शायद २७ से अधिक वर्ष बीत गए—मैं तो आज तक यही अनुभव करता हूँ कि मैं वही दो-ढाई वर्ष का शिशु हूँ। मुझे इस कल्पना से सुख मिलता है कि कोई 'अदृश्य' मुझे अपनी गोद में लिए बैठा है। उस समय मुझे माँ का दूध चाहिए था—इस समय भगवान् का प्रेम। वह मुझ में बैठ कर, या मेरे चारों ओर व्याप्त होकर माँ के दूध की तरह, अपना प्रेम पिला रहा है। मेरी यह धारणा, चाहे सच हो चाहे गलत, मुझे जीवित रहने का बल देती है।

मेरे इस छोटे से जीवन-काल में कई बार ऐसे क्षण आए हैं, जब मुझे अपना अस्तित्व असह्य ज्ञात हुआ है। जब मैं उसे भूल जाता हूँ तो मुझे अपना भार सँभालना असंभव हो जाता है और अपने ही हाथ

से अपना गला घोट देने की इच्छा होती है। जब मैं अपने आपको और अपने सुख-दुखों को उसके आंचल में डाल देता हूँ, तो जैसे बिलकुल हलका हो जाता हूँ, फिर मैं सोचता हूँ मुझे कुछ दुख नहीं है—मुझे कोई अभाव नहीं है—मुझे जीना चाहिए—मुझे जीना चाहिए।

इतने वर्षों के बाद भी उन क्षणों की मुझे याद है, जब 'अनंत के पथ पर' लिखने को मैंने कलम उठाई थी। मैं एक तंग कोठरी में बैठा हुआ सोच रहा था—मुझे चाहने वाला इस जगत में कोई नहीं—मुझे चाहने वाला इस दुनिया के पार है। मुझे निराशा और वेदना का भार असह्य हो उठा—उस समय यदि मैं कविता न करता तो शायद आत्म-हत्या करता। दो या तीन दिन मैं लगातार लिखता ही रहा और जब मैंने ये पंक्तियाँ लिखीं—

अपना ही पथ तो मुझको  
 बन गया अनंत अगम था।  
 मैं समझ नहीं पाई थी  
 मुझमें मेरा प्रियतम था।

तो मेरे ऊपर से वेदना का पहाड़ उतर गया। बादलों के बरस चुकने के बाद जैसे आकाश निर्मल हो जाता है, वैसा ही मेरा अंतःकरण भी हो गया।

यह पुस्तक प्रारंभ से अन्त तक एक ही कल्पना है। ससीम असीम को—या यों कहो आत्मा ब्रह्म को प्राप्त करने को प्रस्थान

करती है। मैंने 'आत्मा' की एक स्त्री के रूप में कल्पना की है। वह एक कुटी में बैठी हुई है—संध्या का समय है—आकाश लाल है—धीरे-धीरे तारे चमक उठते हैं। उसका हृदय न जाने क्यों व्याकुल हो उठता है, जैसे कोई उसे बुला रहा है। वह अपनी कुटी छोड़ कर चल पड़ती है। मार्ग में उसे नदी, तलाब, वन, उपवन, समाधि, समाधि का दीपक, आदि अनेक वस्तुएँ मिलती हैं—वे सब उसे मानों कुछ कह रहे हैं। वह 'मुझे कहाँ जाना है, मुझे कहाँ जाना है' सोचती भटकती रहती है। प्रभात के समय एक नाव लेकर सिंधु में बह पड़ती है। अन्त में उसे ज्ञात होता है कि वह तो इतना दूर नहीं है कि उसे खोजने कहीं जाना पड़े।

यह मैं पहले बता चुका हूँ कि 'अनंत के पथ पर' प्रारम्भ से अन्त तक एक ही रचना है, किन्तु जहाँ 'एक भाव—एक विचार' समाप्त होता है वहाँ से नया पृष्ठ प्रारम्भ कर दिया है। मैं समझता हूँ जिनके पास लंबी रचना पढ़ने को समय या अभ्यास नहीं, वे इसे टुकड़ों में पढ़ कर भी कुछ पा सकेंगे। मैंने कुछ शब्दों के लिखने में जान बूझ कर भूल की है—जैसे जगत् को जगत, अन्तर् को अन्तर, महान् को महान और वक्षःस्थल को वक्षस्थल। शब्दों के रूप के प्रति अत्यधिक कठोर रहने वाले पंडित-प्रवर इसके लिये मुझे क्षमा करें।



## समर्पण

मान्य भाई गोपीकृष्ण विजयवर्गीय  
को

तुम मेरे जीवन-पथ पर दीपक लिये आगे-आगे चल रहे हो ।

जब थकान और प्यास से हृदय मूर्च्छित हो जाता है,

तब तुम अमृत का प्याला लिये उपस्थित दिखते हो ।

मैंने कई बार सोचा है, मैं तुम्हें क्या दूँ ।

‘अनंत के पथ पर’

तुम्हारे ही अन्तःकरण की प्रेरणा है,

इसलिए तुम्हें ही समर्पित है ।

हरि



## अनंत के पथ पर

संध्या ने नील गगन में  
छिड़की है कुंकुम-लाली,  
इस उर में, हाय, जगादी  
किसकी 'स्मृति' मृदु मतवाली ?

किस लाल-लाल मदिरा से  
भर गया हृदय का प्याला ?  
जल उठी अचानक जैसे  
फिर बुझी बुझाई ज्वाला ।

ब्रह्मांड अखिल करता है  
 नर्तन आँखों में मेरी ।  
 रवि, शशि, तारे देते हैं  
 मेरे प्राणों में फेरी ।

क्या घूम रहा आँखों में  
 छाया-सा. धुँ धलेपन-सा,  
 विस्मय-सा, कौतूहल-सा,  
 झिलमिल लघु शारद घन-सा,

जिज्ञासा, गूढ़ पहेली,  
 कुछ तत्व-ज्ञान, दर्शन-सा,  
 सुर-धनु, विद्युत, हृत्स्पंदन,  
 पीड़ा-सा, पागलपन-सा,

कंपन-सा, प्रेम-पुलक-सा,  
 शुचि प्रणय-प्रंथि-बंधन-सा,  
 व्याकुलता, विरह-व्यथा-सा,  
 मृदु मधुर अधर-चुंबन-सा ।

निशि संध्या-पट के पीछे  
सुलभाती अलकें काली ।  
उनके? फैलाती आती  
बुनती-सी 'तम' की जाली ?

अलकों के कुसुमों से ही  
खिलते हैं नभ के तारे ।  
क्या चमक उठे जीवन के  
गत सपने सारे प्यारे ?

स्वर्गज्ञा की धारा में  
 स्मृति के दीपक हैं बहते,  
 किस मधुर लोक की गाथा  
 मेरे मानस से कहते ?

इस रत्न-जटित अंबर को  
 किसने वसुधा पर छाया ?  
 करुणा की किरणें चमका,  
 क्यों अपना रूप छिपाया ?

यह हृदय न जाने किसकी  
 सुधि में बेसुध हो जाता ?  
 छिप-छिप कर कौन हृदय की  
 बीणा के तार बजाता ?

क्या जाने नीरव नभ से  
 किसका आमंत्रण आता ?  
 उर लक्ष्य-हीन पक्षी-सा  
 किस ओर उड़ा-सा जाता ?

इस 'महाशून्य' में किसका  
 मैं अनुभव कर मुसकाती ?  
 मैं अपने ही कल-रव को  
 क्यों नहीं समझने पाती ?

नभ के 'पर्दे' के पीछे  
 करता है कौन 'इशारे' ?  
 सहसा किसने जीवन के  
 खोले हैं बंधन सारे ?

रुक सकी न इस कुटिया में,  
 रह सकी न मैं मन मारे ।  
 हो अब प्रवाह ही जीवन,  
 छूटे सब कूल-किनारे ।

जग के सुख-दुख से मेरा  
 अब टूट चुका है नाता ।  
 पर, समझ नहीं पाई हूँ  
 है मुझको कौन बुलाता ?

किसका अभाव मानस में  
 सहसा शशि-सा आ चमका ?  
 है क्या रहस्य, बतलादे  
 कोई इस अंतर्तम का ।

इन सरल तरल नयनों में  
 किस की उज्वल छवि छाई ?  
 किसने मेरे प्राणों में  
 अपनी तस्वीर बनाई ?

‘जलजात’ हृदय का मेरे  
कोई ‘अज्ञात’ खिलाता ।  
मेरे जीवन के रवि का  
कुछ पता नहीं मिल पाता ।

संध्या के समय हृदय में  
कैसा प्रभात-सा आया ?  
किसकी किरणों ने छूकर  
प्राणों को आज जगाया ?

शुचि नाम न जाने किसका  
 नव-रश्मि नित्य लिख जाती ।  
 वह भाषा मुझे न आती  
 जो मैं उसको पढ़ पाती ।

किस के चरणों पर अविरल  
 आँखें हैं अर्घ्य चढ़ाती ?  
 किस मादक मोहक छवि के  
 मैं नित्य गीत हूँ गाती ?

स्वप्नों में आ, क्यों 'कोई'  
 चुपचाप चला जाता है ?  
 बुझते 'जीवन-दीपक' को  
 भर 'स्नेह' जला जाता है !

किस 'महालोक' से आता,  
 किस महालोक को जाता ?  
 किस 'स्वर्ण-सदन' में मेरा  
 रहता है भाग्य-विधाता ?

किसका अदृश्य कर नभ को  
 प्रति दिन चित्रित कर जाता ?  
 किसका कर दिन-रजनी का  
 यह अविरत चक्र चलाता ?

है क्या रहस्य, क्या जाने,  
 इस विस्तृत अगम गगन का ?  
 यह मादक देश कहाँ है,  
 जीवन के 'जीवन-धन' का ?

कैसे यह इतना सोना  
इन किरणों में भर आया ?  
नित नये रूप सजती है  
किस मायावी की माया ?

अस्थिर है इन्द्र-धनुष के  
रंगों-सी जग की क्रीड़ा,  
क्या इसीलिए, दुनिया में  
रहने में होती पीड़ा ?

भूकंप, प्रभंजन, चल्का,  
दुखं, जरा, मृत्यु, परिवर्तन,  
पतझड़, पिशाच-से जग में  
करते हैं तांडव नर्तन ।

जब सर्वनाश-शर चतता  
जग सुमनों-से झड़ जाते ।  
घायल विहगों से नभ के  
तारक-दल भू पर आते ।

मिट जाते हैं बुद्बुद-से  
संसार सैकड़ों बन कर ।  
सुख आते, फिर खोजाते  
सुरधनु-से क्षण भर तनकर ।

क्या मैं भी झूठा सपना,  
क्या मैं हूँ केवल माया ?  
अपनी आँखों में दिखती  
क्यों अपनी कल्पित काया ?

मैं किसी कल्प तरु की हूँ  
क्या केवल अस्थिर छाया ?  
मैं । नहीं जानती जग में  
है मुझे कौन ले आया !

किस 'महाविटप' से झड़कर  
यह 'पल्लव' उड़ता फिरता ?  
क्यों बार-बार 'आँधी' से  
ऊपर उड़ गिरता ?

रवि की बुझती किरणों से  
 क्या मेरा भी है नाता ?  
 मैं नहीं जानती. दिनकर  
 किस नभ में रात बिताता ।

ये कान नहीं सुन पाते  
 'अवसान' तान क्या गाता !  
 किस कारण शशि अंबर में  
 मुसकाता-सा है आता ?

तारों के हार बना कर  
 रजनी शृंगार सजाती ।  
 कर मुक्त केश अंबर में  
 किसको उलझाने आती ?

है मुझे अपरिचित-सा ही  
 इस जग का 'कल-रव' सारा,  
 जैसे हो और कहीं पर  
 मेरा 'नन्दन-वन' प्यारा ।

है जिसकी मधुर हँसी से  
 जग-मग स्वर्गझा-धारा,  
 मेरी 'आँखों का तारा'  
 है सचराचर से न्यारा ।

अब याद नहीं है मुझको  
 अपना ही 'कूल-किनारा' ।  
 किस 'महासिंधु' में जाकर  
 'लय' होगी 'जीवन-धारा' ।

मानों इस 'अधियारे' में  
 मैं अपनी 'रात' बिता कर,  
 फिर 'उड़' जाऊँगी 'ऊपर'  
 अंबर में पर फैला कर।

दो 'गीतों' में जीवन का  
 मैं सारा 'मूल्य' चुका कर,  
 फिर 'महागान' में जाकर  
 'मिल' जाऊँगी इठला कर।

इस जग के कोलाहल से  
 है मेरी तान निराली।  
 जग के बैभव से खाली  
 मेरे जीवन की प्याली।

पत्थर के इन टुकड़ों पर  
 क्यों दुनिया आपा खोती ?  
 सब परख लिये हैं मैंने  
 इस जग के मानिक मोती।

मैं रहती उन्मन मन से  
 सब जग से अलग अकेली ।  
 दुनिया को मैं, मुझको वह  
 लगती है गूढ़ पहेला ।

क्यों पागल प्यास बनी है  
 मेरे प्राणों की प्याली ?  
 किस कारण मुझ पर देते  
 'पल्लव-डल' पल-पल ताली ?

यह 'कली' हिचकती मन में,  
 कैसे जग में मुसकावे ?  
 कैसे लोभी 'अधरों' को  
 प्रेमासृत पान करावे ?

जग की जगमग को कैसे  
 देखूँ, आँखें सकुचाती ।  
 जग के प्रमत्त उत्सव में  
 मैं भाग न लेने पाती ।

मैं नई 'तारिका' नभ में  
 आ चमकी भूली-भटकी ।  
 मानों, मैं वन की कलिका  
 उपवन में आकर चटकी ।

मानों, मैं पथिक अकेली  
 भूली पथ-रेखा घर की ।  
 मैं बिछुड़ी बूँद, अमरता  
 के मिलनोन्मुख सा. की ।

क्या जाने किस गिरि से गिर  
 मैं नीचे भूपर आई।  
 किस विकल जलद के दृग ने  
 प्राणों की पीर बहाई ?

वह चली 'विश्व-सरिता' में  
 कर पार नगर, निर्जन-वन;  
 अस्तित्व निरख अपना ही  
 मैं विस्मित होती क्षण-क्षण।

प्रत्येक हृदय का कंपन  
 कहता है एक कहानी।  
 "तू महा-उदधि के उर की,  
 बस, एक लहर दीवानी।"

किस 'सागर' का आमंत्रण  
 है मलय समीरण लाई ?  
 करने हैं 'पार' मुझे अब  
 कितने गिरि, गह्वर, खाई ?

होता है भान कही है  
 मेरा भी 'मधु-नंदन-वन' ।  
 छूती थीं कभी मुझे भी  
 शीतल 'शशि-किरणें' छन छन ।

अब पथ भूली उस सुख का,  
 पाया यह 'कंटक-कानन' ।  
 किस ओर बहा जाता है  
 अब मेरा आकुल जीवन ?

बहरा है जगत किसे मैं  
 प्राणों की पीर सुनाऊँ ?  
 इन काँटों में मैं कैसे  
 अत्र अपना नीड़ बनाऊँ ?

जल उठी अचानक उर में  
 किम् आकांक्षा की ज्वाला ?  
 है कौन, बतादे कोई,  
 यह आग लगाने वाला ?

हो उठा तरंगित मानस,  
 उर में सागर लहराता ।  
 अभिलाषा की लहरों का  
 अब छोर नहीं मिल पाता ।

किसकी स्मृति अंतस्तल को  
 करती पल-पल मतवाला ?  
 किसने अपनी ममता का  
 छिप-छिप कर बंधन डाला ?

अलि-गुंजन-सा, कानों में  
 अस्पष्ट 'गान' है आता,  
 परिचित-सा, किंतु न उसका  
 कुछ अर्थ समझ में आता ।

वीणा के तार बजा कर  
 हरिणी-सा मुझे बुलाता !  
 किसका 'आकर्षण' मुझको  
 अनजान कहाँ ले जाता ?

उड़ता है हृदय निरंतर,  
 पर उसे नहीं है पाता,  
 यह व्यर्थ असीम गगन में  
 'चकर' अविराम लगता ?

यदि कभी, 'अलख', 'पथ' तेरा  
 पल भर को भी मिल जाता,  
 इन 'भूल भुलैयों' से तब  
 कुछ 'छुटकारा' मिल पाता ।

संध्या के पट के पीछे  
 'निशि' की नूपुर-ध्वनि आई ।  
 कण-कण में 'गान' करुणतम  
 देता है मुझे सुनाई ।

इस 'अंधकार' में किसने  
 शशि-सी मृदु 'कोर' दिखाई  
 इस संधि-समय में आँखें  
 क्यों इतना जल भर लाई ?

चुंबन करता है कोई  
 आ-आ 'अवगुंठन' मेरा,  
 पर, देख नहीं पाती हूँ,  
 हे चारों ओर 'अँधेरा' !

'भव' की ये निधियाँ सारी  
 बन गई मुझे क्यों रौरव ?  
 मानों, मैं लुटा चुकी हूँ  
 अपना सब वैभव—गौरव !

'नीड़ों' की ओर विहग-दल  
 उड़ते हैं, करते कल-रव ।  
 मैं सूनी आँख निरखती  
 संध्या का 'मिलन-महोत्सव' ।

वह 'क्षितिज' रोकता है पथ.  
 'उस पार' 'बसेरा' मेरा,  
 'माया' ने डाला मेरे  
 जीवन पर कैसा 'घेरा' ?

कल्लोलिनि लहराती है—  
 तट से मृदु क्रीड़ा करती,  
 ऊपर उस नील गगन की  
 रत्नों से थाली भरती !

माधुरी मुदित अंबर से  
 अबनी पर आज उतरती ।  
 शशि-सुधा-कलश से मद् की  
 धारा धरणी पर भरती ।

कहते नक्षत्र गगन के  
 तुम नाचो आज परी-सी ।  
 हम चरणों पर आ लोटें,  
 है निशि उन्माद भरी-सी ।

शीतल मृदु मलय पवन है  
 उपवन में मुक्त विचरती ।  
 क्यों स्पर्श-मात्र से उसके  
 यह जीवन-लता सिहरती ?

निशि के आँचल से मुँह ढक  
 जग-शिशु है सोने वाला ।  
 पर पिला रहा है मुझको  
 कोई 'जाग्रति' का प्याला ।

जब 'मूँद' 'पलक' देखेगा  
 जग सुख के सपने प्यारे,  
 क्या सूने में बैठूँगी  
 मैं व्याकुल गिनती तारे ?

‘विश्राम’ करेंगे जब सब  
 ‘नीड़ों’ में ‘श्रम’ से हारे,  
 क्या ‘तरी’ खोजती मैं ही  
 भटकूँगी सिंधु-किनारे ?

पर जब इस अस्थिर जग के  
 उस पार ‘जगत’ है मेरा,  
 तब क्यों न चलूँ उस पथ पर,  
 मैं तोड़ ‘क्षितिज’ का ‘घेरा’ ?

इस भूले—भटके जग ने  
 समझा है जिसे ‘किनारा’,  
 वह माया-जाल भ्रमों का  
 दिखने में मोहक. प्यारा ।

उस पर यह हृदय भटक कर  
 फिरता है मारा—मारा ।  
 इस जग के पार ‘क्षितिज’ से  
 ‘प्रियतम’ ने मुझे पुकारा ।

उस पार क्षितिज के मानों,  
 प्रियतम का स्वर्ण-महल है,  
 'छलना' से जहाँ मरु-स्थल  
 देता न दिखाई जल है।

शुचि अंतस्तल माता-सा  
 जिसका अति सरल, विमल है ;  
 जिस छवि के दर्शन भर से  
 धुल जाता मति का मल है ;

निशिदिन जिसको पाने को  
सब शिशु से हाथ बढ़ाते ;  
जिसकी वत्सल गोदी में  
पथ के सब श्रम मिट जाते ;

ये प्राण ससीम जहाँ पर  
बनकर असीम मुसकाते ;  
अस्तित्व गँवाकर अपना  
हैं जहाँ अमर-पद पाते ;

जो हृदय हुआ करता है  
पल-पल पर व्याकुल चंचल,  
कर देता उसको शीतल  
जिसकी करुणा का अंचल ;

संताप शांत कर देती  
जिस की करुणा की धारा ;  
तमपूर्ण हृदय में जिसकी  
छवि कर देती उजियारा ;

प्यासे प्राणों को मिलता  
केवल छल का न मरु-स्थल ;  
चरणों से जहाँ न कुचले  
जाते हैं आँसू निर्मल ;

वीणा के तार बजाकर,  
हरिणी-सा पास बुलाकर,  
लेता है जहाँ न कोई  
बधिकों-सा प्राण भुला कर ;

है जहाँ छिपाकर रखनी  
पड़ती न हृदय की ज्वाला ;  
विषधर बनकर डस लेती  
है जहाँ न उर की माला ;

भ्रम-संशय के कंपन से  
कर का न छूटता प्याला ;  
है प्रेम न समझता जाता  
जिस जग में इतना काला ;

गंगा-सी बहती रहती  
 प्रेमामृत की मधु-धारा ;  
 बंधन का जहाँ न पहरा  
 आमंत्रित है जग सारा ;

वैभव अस्थिर जग-मग से  
 है जहाँ न जी ललचाता ;  
 फेला कर स्वर्ण, प्रलोभन  
 है जहाँ न जात विछाता ;

विष-बीज न जीवन-उपवन  
 में कुटिल स्वार्थ है बोता ;  
 जीते जी मर जाने का  
 उपक्रम है जहाँ न होता ;

चुनता न जहाँ फिरता है  
 आकुल जग आँसू अपने ;  
 नश्वरों से बुझ जाते  
 रजनी के जहाँ न सपने ;

अभिलाषा-मुकुल न पथ पर  
 बिखरा, दुर्भाग्य-प्रभंजन  
 कर देता यौवन-तरु को  
 असमय में सूना-निर्धन;

निद्रा—तंद्रा फैलाकर  
 अपनी मादक चादर को,  
 शिशु-सा न सुला देती है,  
 थपकी दे, त्रिभुवन भर को;

उस 'चिर-जाग्रति' के जग में  
 रहता है मानों 'सुंदर' ।  
 उसके पथ में लहराता  
 है 'भव' का विस्तृत सागर ।

केवल मिट जाने की ही  
 इच्छा इस उर में रखकर,  
 क्या इस 'अथाह सागर' में  
 दूँ खोल 'नाव' का 'लंगर' ?

उठ रहा ज्वार सागर में,  
शशि चमक रहा अंबर में ।  
मैं कैसे रुकूँ, अचानक  
उन्माद उठा अंतर में ।

रत्नाकर अपने जल में  
जो भिल-भिल रत्न दिखाता ।  
जग 'लक्ष्य' भूल कर, उनकी  
जग-मग ही में रम जाता ।

मैं मुनती हूँ, बैठा है  
 उस पार क्षितिज के 'प्यारा',  
 इस सागर की लहरों को  
 करता है मृदुल 'इशारा'।

केवल उसकी छवि अपलक—  
 छक-छक पीते हैं तारे।  
 उस ओर हृदय बहता है,  
 अब अविरल, बिना विचारे।

जो उसके तट तक पहुँचा  
 वह नहीं लौट कर आया।  
 किससे पूछें, किस पथ पर  
 चलकर प्रियतम को पाया ?

यद्यपि प्रियतम को पर्दा  
 करना है इतना भाया,  
 'विस्मृति' भी फैलाती है  
 रह-रह कर अपनी माया,

फिर भी प्राणों पर छाई  
 उज्वल अतीत की छाया।  
 कैसे कह दूँ प्रियतम ने  
 है मेरा प्रेम भुलाया ?

कितनी मादक तानों से  
 जग अपनी ओर बुलाता,  
 इस पथ पर बाधाओं के  
 कितने तूफ़ान उठाता,

जग के सुमनों का सौरभ  
 है भरस निमंत्रण लाता,  
 प्यालों में मधु भर मधुवन  
 अधरों में प्यास जगाता,

कितने 'मधु-गान' हृदय को  
 'अलि' आकर नित्य सुनाता,  
 फिर भी 'निकुंज' यह मुझको  
 फूटी आँखों न सुहाता।

जिस नंदन-वन का सौरभ  
 अनजान आज आता है,  
 मेरा अलि-सा उर उड़ कर  
 अब उसी ओर जाता है ।

कुछ दूर मधुर बंसी-सी  
 देती है तान सुनाई,  
 सुन कर उमंग की यमुना  
 इन प्राणों में लहराई ।

जो उसे श्रवण कर लेता  
 कब उसको जगत सुहाता ?  
 मेरा उर भी चलता है  
 अब तोड़ विश्व से नाता ।

जो एक तान सुन लेता,  
 वह हो जाता दीवाना,  
 है हृदय चाहने लगता  
 उस 'लय' में 'लय' हो जाना ।

मैं तन्मय हुई उसी में  
 दुनिया के सुख-दुख बूटे ।  
 ममता, माया, तृष्णा के  
 दृढ़तम बंधन हैं टूटे ।

वह रूप छिपावे अपना<sup>१</sup>  
 मैं कभी निराश न हूँगी ।  
 इस भाँति भटकती फिरकर  
 मैं उसे प्राप्त कर लूँगी ।

परिचित-सा प्रेम हृदय में  
 जाने क्या-क्या है गाता,  
 अंतर में जैसे कोई  
 कुछ 'बीती कथा' सुनाता ।

हाँ, याद आ चली मुझको  
 कुछ भूली हुई कहानी,  
 कर पान प्रेम की प्याली  
 जब रहती थी दीवानी ।

मुसकान इंद्र-धनु जिसकी,  
 चंचल चपला है चितवन,  
 उसकी शीतल छाया में  
 करती नित नूतन नर्तन ।

सागर की लहरें जिसके  
 सर का हैं लघु लघु स्पंदन,  
 वह जीवन-धन, मन-मोहन  
 करता आनन का चुंबन ।

उस मंदिर में, जिसका है  
 अंबर लघु आँगन उज्वल,  
 मैं शिशु-सी, कुमुद-कला-सी,  
 करती थी क्रीड़ा चंचल ।

नक्षत्र-मालिका से मैं  
 श्रृंगार सजाती अपना,  
 वह होता मुदित; हुआ अब  
 वह जीवन केवल सपना ।

लट खुलती जाती निशि की  
 शशि ने आनन दिखलाया,  
 तारों की आँखें चमकी,  
 रजनी ने जाल बिछाया ।

‘निद्रा’ की साड़ी ओढ़े  
 दुनिया ने दुःख भुलाया ।  
 ‘बेहोशी’ ने स्वप्नों का  
 है सुंदर कुंज खिलाया ।

निर्ाश की अलसित पलकों में  
 क्या नये स्वप्न हैं जागे ?  
 बजते हैं तार हृदय के,  
 क्या होने वाला आगे ?

इन किरणों की डोरी से  
 ऊपर को कौन चढ़ाता ?  
 सौरभ-सा आज हृदय उड़  
 अनजान दिशा को जाता ।

सागर की लहरें, मानों,  
 'सोने की तरणी' लाती ।  
 किस छवि की 'शुभ्र पताका'  
 मुझको 'उस पार' बुलाती ?

कुछ ऐसा अनुभव होता—  
 हूँ विकल जिसे पाने को,  
 वह स्वयं आ रहा मुझको  
 अपने घर ले जाने को ।

मैं कहीं किसी प्रेमी के  
 नयनों का नशा बनूँगी,  
 या तरु से गले मिलूँगी,  
 लतिका-सी फैलूँ तनूँगी ।

सागर के वक्ष-स्थल पर  
 लहरों-सी नृत्य करूँगी,  
 या वीणा बन प्राणों के  
 स्वर से त्रैलोक्य भरूँगी ।

मैं नहीं जानती, किसके  
कोने का 'दीप' बनूँगी।  
मैं किस प्रशांत सागर के  
मोती की 'सीप' बनूँगी ?

मैं नहीं जानती, किसके  
प्राणोंकी 'प्यास' बनूँगी,  
मैं नहीं जानती, किसके  
अधरों का हास बनूँगी

किस प्रेम-पथिक के पथ की  
मैं पावन धूल बनूँगी ?  
मैं किस गुलाब के वन में  
मधुपों का शूल बनूँगी ?

मैं नहीं जानती, किसकी  
क्यारी का फूल बनूँगी,  
मैं नहीं जानती, किसके  
यौवन की भूल बनूँगी,

अनुराग बनूँगी, या मैं  
 अंतर की आग बनूँगी,  
 मादक विहाग या भैरव  
 जाने क्या राग बनूँगी ?

दीवाली-सी विलसूँगी,  
 या होली-सी धधकूँगी ?  
 अंधी-सी अधियारे में  
 चल, किस जग में पहुँचूँगी ?

क्या छिपा 'गगन' के मन में,  
 मैं नहीं समझने पाई।  
 किसने 'मरु' की लपटों में  
 यह कोमल 'कली' खिलाई ?

क्या सघन 'घनों' के उर पर  
 मैं चंचल विद्यत—रेखा ?  
 मिट जाएगा पल भर में  
 जीवन का जग-भग लेखा ?

सागर के वक्ष-स्थल पर  
 मैं एक लहर का स्पंदन,  
 क्या विशद-विश्व-वीणा की  
 मैं एक क्षीण-सा कंपन ?

बुद-बुद-सा पल भर चल कर  
 क्या मिट जाएगा जीवन ?  
 गिरना है, आँसू-सा कर  
 क्षण जग-नयनों में नर्तन ?

किस 'महामिलन' को मेरी  
 लालसा हिलोरें लेती ?  
 आशा नूतन अभिलाषा  
 इन प्राणों में भर देती ।

जिस जग में उज्वल मोती  
 हैं मिट्टी में मिल जाते,  
 हैं जहाँ कमल से मानस  
 चरणों से कुचले जाते,

ज्योत्स्ना की शीतल छवि भी  
 अंतर में आग लगाती,  
 उस जग से इन प्राणों की  
 वीणा न आज मिल पाती ।

चिरदिन की संचित पीड़ा  
 सहसा मानस में जागी ।  
 जगती की जगमग अस्थिर  
 निधियों से ममता त्यागी ।

हो उठी अचानक जाग्रत  
 व्याकुलता-सी तानों में,  
 क्या कसक रहा रह रह कर  
 मेरे पागल प्राणों में ?

हो उठा हृदय में गुंजित  
 किस प्रणय-कुंज का गुंजन ?  
 जिसको सुनते ही बेसुध  
 हो चला अचानक तन-मन ।

कर उठी वेदना सहसा  
 मानस में मादक मंथन ।  
 क्यों प्रेम, कुसुम—शर तेरे  
 इतना देते उत्पीड़न ?

तू किस अदृश्य गढ़ में छिप  
 वाणों की वर्षा करता  
 अपने तीखे तीरों से  
 त्रिभुवन का आँगन भरता ।

तू छूता जब मानस को  
 सब बंधन बह जाते हैं ।  
 सब एक 'मलक' पाकर ही  
 दीवाने बन जाते हैं ।

तू अरुण उषा बन कर जब  
 जीवन-नभ में है आता,  
 तब हृदय भक्ति से तुझको  
 आँखों का अर्घ्य चढ़ाता ।

तेरे ही रक्तिम रँग से  
 भर जाता है उर-आँगन,  
 होली-सी जला हृदय में  
 आकुल हो उठता जीवन ।

किस अतल अकूल उदधि में  
 ले जाता तेरा भौंका ?  
 उस सागर का तट पाने  
 क्या दुख ही बनता नौका ?

लेती हैं प्राण जगत के  
 ये रूप-शिखा की किरणें ?  
 क्यों उड़ते मूर्ख पतंगे  
 मतवाले 'लौ' पर गिरने ।

क्या है मरीचिका केवल  
 सौंदर्य, रूप-धन, सारा ।  
 दुख पाता, प्यास बुझाने  
 जाकर, जग—मृग बेचारा ।

इस जग की प्रेम-कहानी  
 लगती मुझको कुछ फीकी ।  
 इससे न मिला पाती हूँ  
 मैं संगति अपने जी की ।

उषा के रँग में रँगते  
 जब नभ-अवनी के आँगन,  
 पीला पड़ जाता जाने  
 किस दुख से मेरा आनन ।

सब संध्या की ङ्गया में  
जब खोते तपन हृदय की,  
कर याद अचानक रोती  
मैं भूले हुए निलय की ।

रजनी जब मदिरा पीकर  
हो जाती है मदमाती,  
किस मधुशाला की मुझको  
तब मादक याद सताती ?

जब जुगनू चमक-चमक कर  
तारों-से टूटे पड़ते,  
मधुवन में नील गगन के  
भानों, फूलों-से भड़ते,

तब मेरे नयनों से भी  
भड़ते आँसू के मोती ।  
किसका शृंगार सजाने  
मैं उज्वल हार पिरोती ?

भरता बसंत वसुधा का  
 आँगन सुरभित फूलों से,  
 कोई भर जाता मेरा  
 जीवन-उपवन शूलों से ।

पल्लव-दल में छिप कोयल  
 मतवाली तान सुनाती,  
 जब सरिता के प्राणों में  
 बैभव की वंशी गाती,

चाँदी की चादर बिछाती  
 मादकता के आँगन में,  
 जब शशि नभ में मुसकाता,  
 तब रोती मैं निर्जन में ।

अपना श्रम सभी किसी की  
 छाया में जब खोते हैं,  
 अपने अपने नीड़ों में  
 'पक्षी' सुख से सोते हैं,

सब अपने—अपने मादक  
 स्वप्नों के हार पिरोते,  
 जब सुधा-धार से शशि की  
 सब अपना 'आँगन' धोते,

सबके हाथों में दिखता  
 हाला का प्याला सुंदर,  
 सब डाल रहे हैं भूला  
 जब एक-एक डाली पर,

जब एक—एक दिखती है  
 सब ही के उर में 'माला',  
 जब 'शशि' की ओर निरख कर  
 होता सब जग मतवाला,

तब व्यथा हलाहल से क्यों  
 भर देती मेरा प्याला ?  
 बन जाती सर्प मुझी को  
 क्यों मेरे उर की माला ?

अधियारा नर्तन करता  
 क्यों अंतस्तल में काला ?  
 उज्वल ज्योत्स्ना क्यों मुझको  
 बन जाती भीषण ज्वाला ?

किस कारण इन आँखों को  
 दिखता शशि भी अंगारा ?  
 क्यों लगता है प्राणों को  
 यह तन भी दारुण कारा ?

तम की छाया—सा दिखता  
 मुझको सारा, उजियारा,  
 मानों मैं, खो बैठी हूँ  
 अपनी आँखों का तारा ।

मैं अपनी ही साँसों  
 डोरों को पकड़-पकड़ कर,  
 कितने दिन चल सकती हूँ  
 इस जगती के जन-पथ पर ।

म क्यों इस सूने तट पर  
 आँसू का हार पिरोती ?  
 सूनेपन के चरणों पर  
 क्यों खोती मानिक मोती ?

कुछ दुखता—सा है उर में,  
 मैं हृदय थाम रह जाती ।  
 भीतर से कोई कहता,  
 “यह प्रियतम की है थाती” ।

मैं एक घड़ी में मरती,  
 फिर एक घड़ी में जीती,  
 इस आशा और निराशा  
 में जीवन-बेला बीती ।

निधि इस कंगाल हृदय की  
 मिट्टी में मिलती जाती ।  
 यदि 'प्रियतम' आ जाता तो  
 मैं हार बना पहनाती ।

आशा का दीप जला है  
 पाकर अब मृदुल इशारा ।  
 छूने को चरण हृदय-धन,  
 मैं बहती हूँ बन धारा ।

उन्मत्त हृदय ने बंधन  
 अब तोड़ दिये हैं सारे,  
 अब छिप न सकोगे तुम भी  
 'मेरी आँखों के तारे ।'

वह छूट चुकी है कुटिया,  
 वह छूट गई फुलवारी,  
 थी जहाँ बहुत सी कलियाँ  
 मुझ पर वारी-बलिहारी ।

थी जहाँ कोकिला गाती  
 मृदु गाया प्यारी—प्यारी ।  
 बहती थी निकट कुटी के  
 गिरि-बाला शुचि सुकुमारी ।

थी कल-कल, छल-छल, अविरल,  
 चलती बल खाती धारा,  
 गाती थी, इठलाती थी,  
 जाती थी चूम किनारा ।

मिल मलिन सलिल अवनी का  
 जिसमें हो जाता निर्मल,  
 था नहीं कलंकित छल से  
 वह दुग्ध-धवल शुचि अंचल ।

जिसमें अपने आनन की  
छवि लखता था जग सारा,  
दिखता 'प्रतिविम्ब' मनोहर  
वह निर्मल दर्पण प्यारा ।

वह शैलनंदिनी, जग की  
दुख-दुविधा जिसे अपरिचित,  
क्षण भर भी रुके बिना जो  
बहती थी सतत अबाधित,

ऊंचे पर्वत भी जिसका  
पथ रोक नहीं पाते थे,  
उस पानी की धारा से  
कट रज-करण बन जाते थे ।

कहती, "अनंत" के उर में  
मैं अपना सारा 'अंतर'  
युग-युग से पिला रही हूँ  
बह-बह कर अविरल भर-भर,

“फिर भी प्रवाह प्राणों का  
बहता है विकल निरंतर,  
मिल जाते मुझ में आकर  
जाने क्यों इतने निर्भर ?

“यद्यपि ‘अनंत’ में मिलती  
फिर भी ‘अपूर्ण’ रह जाती ।  
दिन-रात सोचती यदि मैं  
अस्तित्व मिटाने पाती,

“इस कठिन कँटीले पथ का  
तब सारा श्रम खो पाती ।  
पर पुनः नई वर्षा आ  
मेरा मानस भर जाती ।

“मैं नई ‘उमंगे’ लेकर—  
फि बढ़ती हूँ बल खाती,  
फिर भीम-भयंकर स्वरों में  
‘जीवन के गान’ सुनाती ।

“कितने ही तरु, परलव-दल,  
कलियों को साथ बहाती ।  
क्यों कभी ‘रागिणी’ मेरी  
है पूर्ण नहीं हो पाती ।”

मैं उस सरिता के तट पर  
सुनती थी अश्रु बहाती,  
मानों, वह कल-कल स्वर में  
मेरी ही कथा सुनाती ।

मैं भी ‘अपूर्णता’ से हूँ  
मन ही मन में अकुलाती ।  
‘अनजान दिशा’ को मैं भी  
सरिता-सी बहती जाती ।

हैं खड़ी ‘लताएँ’ कोमल—  
क्यों मेरे पथ को रोके- ?  
कहती हैं, जाना ‘प्रिय’ के  
घर हिम-करण से मुँह धोके ।

“देखो तो ज़रा हमारा  
 मृदु नर्तन, मन के भोंके ।  
 क्या मिल जाएगा तुझ को  
 दिन-रात विकल रो-रो के ।

“मत इतनी जल्दी हम से  
 तुम अपना नाता तोड़ो,  
 इस सूने जग में हमको  
 बन स्नेहहीन मत छोड़ो ।”

मेरी कुटिया से चल कर  
कुछ दूर 'ताल' है सुंदर,  
जिसमें प्रतिबिंबित होते  
रवि, शशि, तारे, घन, अंबर ।

था मादक गीत सुनाता  
कुमुदिनि का उर दीवाना,  
“कुछ सरल नहीं है, बौरी,  
'प्रियतम के घर' तक जाना ।

“भाया है, हाय, उन्हें तो  
 ‘अंबर’ में ‘महल’ बनाना ।  
 हा, लिखा भाग्य में मेरे  
 है नहीं पंख भी पाना ।

“रह दूर यहीं से उनके  
 दर्शन पाकर मुसकाना,  
 सौभाग्य समझती शशि की  
 किरणों से चूमा जाना ।”

उम ओर आ रही रज से  
 कलिका की कोमल वाणी ।  
 “उर का सर्वस्व लुटा कर  
 रज में मिल जा दीवानी ।

“पारणाम प्रेम का इतना,  
 इतनी-सी प्रेम-कहानी,  
 वह दो दिन का गौरव था  
 जब आँखें थीं मस्तानी ।

“ये मधुप जानते केवल  
मानस का ‘रस’ पी जाना ।  
मैं समझ नहीं पाई थी  
इनकी ‘माया का गाना’ ।

“किस छल से भरा हुआ था  
ऊषा का मुझे खिलाना ?  
हो गया प्रलय, मुझको वह  
मेरा पल भर मुसकाना ।

“है भला यही, खिलने के  
पहले ही मुरझा जाना,  
जिससे न स्वार्थियों को हो  
प्रेमामृत पान कराना ।

“सारे अरमान हृदय में  
चुपचाप भरे ले जाना,  
जग की आँखों से बच कर  
बन की रज में मिल जाना ।”

वह उधर शून्य कुटिया में  
जलता है दीप अकेला ।  
लग रहा शहीदों का है  
उसके चरणों में मेला ।

कहते पतंग दीवाने,  
“करता है ‘स्नेह’ ‘उजेला’ ।  
ऐ ‘ज्योति’ गले मिल ले तू  
है यही ‘अमरता-बेला’.

“प्रियतम के चरणों पर ही  
 अपना ‘मर्वस्व’ चढ़ाना ।  
 जीवन देना ही तो  
 कहलाता जीवन पाना ।

“है लक्ष्य लालसाओं का  
 अपना अस्तित्व मिटाना ।  
 ‘ब्रवि’ का उद्देश्य यही है,  
 ‘स्नेही’ का हृदय जलाना ।

“जलदों का प्यार यही है,  
 प्राणों में प्यास जगाना ।  
 है धर्म यही निशिकर का  
 जीवन में ज्वार उठाना ।

“जीने का सार यही है  
 प्रियतम पर प्राण चढ़ाना ।  
 है प्रेम सिखाता जग को  
 आशा की भस्म बनाना ।

“हम नहीं चाहते अपने  
 प्यारे का हृदय लुभाना।  
 है यही अभीष्ट हमें तो  
 छवि-ज्वाला में जल जाना।

“क्यों रुदन करें वे जिनको  
 आता है हँस कर मरना;  
 हो गया शुष्क जल-जल कर  
 जिनकी आँखों का भरना।

‘गुंजित होती अग-जग में  
 ध्वनि अलि-दल के गुंजन की।  
 मरते दम तक प्रियतम से  
 हम कह न सके हैं मन की।

“है यही विभूति प्रणय की  
 ‘ज्वाला’ को गले लगाना,  
 पाकर ‘प्रकाश’ उस में ही,  
 बस, ‘एक रूप’ हो जाना।”

कहता दीप समुज्वल.  
 “यों तिल-तिल हृदय जलाना  
 फिर कभी कभी, ‘विस्मृति’ के,  
 हाथों क्षण भर बुझ जाना,

“फिर स्मृति के हाथों का आ  
 अंतर में आग लगाना,  
 यह कितनी कठिन दशा है  
 जीवन भर नेह निभाना !

“मानस का स्नेह तरल ही  
जग को जग-मग करता है,  
प्रेमी का तिल-तिल जलना  
जग में ‘प्रकाश’ भरता है।

“जब ‘अंधकार’ कुटिया में  
आ, अशुभ चरण है धरता,  
तब मैं ही ज्योतिर कर ‘धर’  
वह कालापन हूँ हरता।

“जब राग-रंग का जग में  
मादक भरना है बहता,  
मैं मूक दशा में तब भी  
कुटिया में जलता रहता।

“अपने प्राणों की ज्वाला  
मैं हँस हँस कर हूँ सहता,  
मैं अपनी ‘प्रेम-कहानी’  
अपने ही मन से कहता।

“उत्साह यही कहलाता,  
 ‘आनन्द’ इसी को कहते ।  
 विरले ही होते ऐसे  
 जो इतनी ज्वाला सहते ।

“जलने दो, स्नेह सिखाता,  
 अंतर का कोना-कोना ।  
 है बुरा ‘मिलन’ की धुन में  
 प्राणों का व्याकुल होना ।

“यह प्रेम समझता अनुचित  
 मानस की आग बुझाना ।  
 यह नहीं सिखाता पल में  
 हिम-कण-समान गल जाना ।

“जब जादू-भरे किसी के  
 कर स्नेह हृदय में भरते,  
 फिर धीरे से उकसा कर  
 जब शिखा प्रज्वलित करते,

“तब इस छोटी-सी छवि पर  
 कितने पतंग जल, मरते !  
 कितनों के स्वप्न अबूरे  
 चरणों पर तड़प, बिखरते !

“अविराम ‘विरह’ में जलना,  
 ‘जीवन’ है यही! कहाता ।  
 वह स्नेहहीन है, जल कर  
 जो पल भर में बुझ जाता ।”

उस ओर ताल में कहता  
 है कमल कहानी न्यारी,  
 "यदि शशि-किरणें ही होती  
 सारे जग को हितकारी,

“तो तरुण-अरुण की किरणें  
 क्यों लगती इतनी प्यारी,  
 अवसान-विहान न होते  
 मिट जाती दुनिया सारी ।

“संतुष्ट नहीं कर सकत  
 सबको ज्योत्स्ना की छाया ।  
 फैली है अखिल जगत में,  
 यह मृग-मरीचिका माया ।

“अभिलाषाओं का उर में  
 यदि तने न ताना -बाना,  
 रुक जावे उच्छ्वासों का  
 बादल-सा नभ में छाना ।

“जब ‘प्रियतम’ की किरणों की  
 ‘आहट’ पथ में है आती,  
 तब अपने आप अचानक  
 मेरी ‘पलकें’ खुल जाती ।

“इस दुनिया में सुख-दुःख के  
 आते ही रहते मोके ।  
 ऐ पगली; क्या ले लेगी  
 दिन-रात व्यर्थ रो-गे के ।

“अरमान हृदय के भीतर  
 यदि कोई सुख से पाले,  
 तो इतना नहीं सतावे  
 अंतर के कोमल छाले।”

“मत समझो, दुर्लभ, बाले,  
 प्रियतम के दर्शन पाना,  
 यदि सीख सको प्राणों की  
 पीड़ा चुपचाप छिपाना।”

उस ओर विजन में कहत  
उपवन की सूनी! क्यारी,  
“यदि उजड़ न जाती चंचल  
यौवन की यह फुलवारी,

“पतझड़ न अगर उपवन की  
कर देता थाली खाली,  
यदि सदा भरी ही रहती  
रस, मधु, सौरभ से प्याली,

“तो मान न पाती कुछ भी  
मधुषों से मेरी डाली,  
तो सुमन न चुनता कोई,  
तो हार न रचता माझी।

“यदि पवन नहीं समझाता  
कलियों को प्रेम-पहेली,  
तो सूने में मुरझा कर  
चू पड़ती क्या न अकेली ?

“ये भोंके आकर करते  
सब ही का मन मदमाता।  
मधुमाम अचानक आकर  
सबका उर-कुसुम खिलाता।

“यदि सदा निरे दर्शन से  
मधुकर का मन भर जाता,  
तो कठिन कंटकों से बिंध  
क्यों अपने प्राण गँवाता ?

“यदि कमल सरोवर से ही  
सबका मानस हर्षाता,  
क्यों जगत उसे पाने को  
लहरों में गोते खाता ?

“प्राणों की प्यास न बुझती  
पी-पी प्याली पर प्याली ।  
मुरझाने ही को खिलती  
है वन-उपवन की डाली ।

“जब तक यौवन की घड़ियाँ,  
मद पीलो और पिला लो—  
किसने भविष्य को देखा,  
जब तक हो मौज उड़ालो ।

जब जीवन का अंतिम फल  
है निश्चय मुरझा जाना,  
तब यही भला है, जब तक  
जीना है हँसान-गाना ।

प्रत्येक पवन का भोंका  
 कहता है नई कहानी ।  
 संतोष नहीं होता है  
 मुन भाँति-भाँति की वाणी ।

वन-वन में, औ' कण-कण पर  
 इन चरणों के भी नीचे,  
 जाने किस-किसने कब कब  
 हैं निर्मल आँसू सीचें ।

जग कुचल-कुचल कर उनको  
चलता है आँखें मीचे,  
अवकाश किसे है उनकी  
तसवीर बैठ कर ग्वीचे,।

जिस हरियाली भुरमुट में  
कर रक्खी तरु ने छाया,  
जाने उस के प्राणों में  
किस ममता की है माया ।

उस सूने वन में किसने  
करुणा का दीप जलाया ?  
किसने जग की आँखों से  
है अपना रूप छिपाया ?

सूनी समाधि के ऊपर  
वह कौन अकेली रोती,  
उज्वल करने को किसकी  
स्मृति-रेखा द्रग से धोती ?

इब रहे भूमि के नीचे  
 कितने 'प्राणों से प्यारे' !  
 कितने ही महल मिले हैं  
 रज में, अभाग्य के मारे ।

परिवर्तन के मनमाने  
 भूचाल अचानक आकर,  
 चल देते हैं, चुपके से  
 गिरि-शृंगों तक को, ढा कर ।

यह समय-सिंधु अनजाने  
 भीषण तूफान उठा कर,  
 गंभीर शांत, बन जाता  
 कितने ही पोत डुबा कर ।

ज्वाला विनाश की जलकर  
 कुटियों में आग लगाकर,  
 बढ़ती जाती, नगरों को  
 मरघट-समान सुलगाकर ।

कृषकों की आशाओं पर  
 चुपचाप तुषार गिराकर,  
 चल देता काल जगत पर  
 दुग्ध के दारुण घन छाकर।

भर-भर कर व्यथा पिलाती  
 है विष-प्याली जग भर को।  
 दिशि-दिशि से दुग्धका स्वर आ  
 भरता मेरे अंतर को।

है मौन शून्य के उर में  
 जाने किन-किन के गाने ?  
 किसने दुखिया दुनिया के  
 अंतर के स्वर पहचाने ?

टूटे पत्रों से उड़ते  
 फिरते कितने दीवाने।  
 कितनी ही वीणाओं में  
 हैं विकल व्यथा के गाने।

जो खड़े हुए हैं निश्चल  
 पर्वत से मन को मारे  
 उनके भी चर से भरते  
 रहते कितने फव्वारे !

जो जग से ऊपर उठकर  
 झनते हैं नभ के तारे,  
 वे जाने किसकी अपलक  
 कर विकल प्रतीक्षा हारे !

मुसकान अधर पर दिग्गती,  
 प्राणों में व्यथा सघन है।  
 जग के दीपक के तल में  
 छाया तम-तोम गहन है।

कितने ही दुखियाओं को  
 बन गया जगत यह कारा,  
 जाने किस-किस दुनिया में  
 उनकी आँखों का तारा।

निशि में हो जाती जाने  
 किस-किस के उर, की चोरी,  
 निद्रित कर देती जग को  
 जब रजनी गाकर लोरी ।

मुरझा देती उर-शतदल  
 शशधर की कला-किशोरी ।  
 कितने भोले हृदयों पर  
 तन जाती असि-सी त्योरी ।

हैं छिपे धरा के तल में  
 दोनों पावक औ' पानी ।  
 इनको भी वश में करके  
 हैं यंत्र चलाते ज्ञानी ।

जिनके चक्रों में पिमकर  
 मिट रही सभ्यता सारी,  
 अवशेष रही है जनतक  
 कंकाल-मात्र बेचारी ।

ऐ समय, कौन गुन पाया  
 है तेरी पूर्ण कहानी ।  
 ऐ व्यथा, जगत में करती  
 फिरती है तू मनमानी ।

वैभव के सिंहासन पर  
 चढ़कर हँसते अभिमानी ।  
 कहते हैं ईश्वर का भय  
 है दुनिया की नादानी ।

रखती रवि-शशि-तारों को  
 नभ में स्थित किसकी डोरी ?  
 जिसके बल अधर सधे ये  
 वह नहीं? कल्पना कोरी ।

किस कारण, किंतु, उसी ने  
 दुखमय संसार बनाया ।  
 क्या दुख-सुख दोनों माया,  
 छल-मात्र, अविद्या-झाया ।

मैं सबकी पीड़ा अपनी  
 वीणा में यदि भर पाती,  
 मंकार हृदय की नभ के  
 उस पार कहीं पहुँचाती,

तो अमरों के स्वामी की  
 करुणा-पलकें खुल जाती,  
 अमरत्व-सुधा की बूँदें  
 दो-चार यहाँ गिर जाती,

तो चिर-वसंत में विकसित  
 होती जग की फुलवारी,  
 कुसुमों की म्लान न होती  
 मुसकान मनोहर प्यारी ।

हो जाता किंतु जगत को  
 भारी इतना सुख-वैभव,  
 यदि मृत्यु न होती तो यह  
 जीवन बन जाता रौरव ।

बिजली-सी चमक-चमक कर  
 मुसकान न यदि मिट जाती,  
 तो जग के प्राणों में वह  
 कौतूहल नहीं जगाती ।

यदि प्रेम-कुंज में होते  
 काँटे न विरह-बाधा के  
 आनन्द न पाता कोई  
 अपने प्रियजन को पाके ।

यदि चढ़े हुए फूलों को  
 फेका न राह पर जावे,  
 तो नित्य नई अंजलि भर  
 चरणों पर कौन चढ़ावे ।

बुझ जाती कहीं प्रलय की  
 दिशि-दिशि में जलती ज्वाला,  
 तो जीवन की महिमा का  
 हलका हो जाता प्याला ।

ऐ विकल प्रेम की पीड़ा !  
 जादू कैसा है तेरा ।  
 क्यों अधिक बढ़ाता जाता  
 ममता तुझ से मन मेरा ?

क्षत—विक्षत करती शत—शत  
 घावों से तू अंबर को ।  
 शत-शत निर्भर-धारों में  
 तू रुला रही भूधर को ।

अभिलाषाओं का खग-दल  
 कब उड़ पाता है ऊपर,  
 खाकर अचूक शर तेरे  
 गिर पड़ता पल में भू पर ।

तूने ही कंटक-दल से  
 भर दी फूलों की क्यारी,  
 मैं नहीं जानती तू क्यों  
 लगती प्रियतम-सी ध्यारी ।

तू आज हृदय में सहसा  
 क्यों कूक उठी कोयल-सी ?  
 मैं कुटी छोड़ कर सूती  
 किस ओर चली पागल-मी ?

मैं सुन न सकूँगी सब के  
 मुख-दुख के सारे गाने,  
 आई स्वर-जाल बिछाकर  
 माया मुझको फुसलाने ।

है लाख—लाख कलियों से  
 भर जाती जग की क्यारीं  
 कहते हैं अधर 'मधुप' के  
 सब को ही 'प्यारी-प्यारी' ।

है जहाँ क्षणिक मोंके से  
 गिरती कलिका बेचारी ।  
 मुझको प्रतीत होती है  
 भ्रम-मात्र सृष्टि यह सारी ।

उलझाए हैं निद्रा में  
जब जग को निशि की अलकें;  
'नीड़ों' में लगी हुई हैं,  
जब सब विहगों की पलकें,

मेरी आँखों में कैसे,  
तब जाग्रत सपने भलके।  
मैं समझ न पाई गाने  
इस पागल अंतस्तल के।

शीतल 'समीर' मानस में  
किस का सौरभ है भरती !  
किसकी 'असीम सीमा' में  
मैं अब 'प्रवेश' हूँ करती !

इच्छा होती है, मैं भी  
उन्मत्त 'नदी' बन जाती,  
मैं भी अनंत के उर में,  
अपना सर्वस्व चढ़ाती।

मैं मुदित 'विहग'—सी 'नभ' में  
 यदि 'मुक्त' विचरने पाती,  
 तो इस जग की सीमा से  
 मैं पार अभी हो जाती ।

यदि हो अमरत्व जगत में,  
 आँखें क्यों ताकें ऊपर ?  
 किस कारण आदर पावे  
 यह मृत्यु भयंकर भूपर ?

लो मान, उतर ही आवे  
 यदि अंबर इस अवनी पर,  
 तो कितना 'भार' हृदय पर,  
 जम जाय अचानक आकर ।

यदि 'नभ के तारों' से भी  
 जग अपना हृदय सजावे,  
 वह शांति नहीं पाएगा  
 चाहे अंबर बन जावे ।

जग के महान महलों की  
है नीव भूमि के ऊपर,  
जो अस्थिरता के नभ में  
है स्वयं रही आहे' भर ।

उस 'महासिंधु' में जब तक  
यह 'जीवन' नहीं मिलेगा,  
तब तक अभिलाषाओं की  
ज्वाला में हृदय जलेगा ।

सुनती हूँ पार क्षितिज के  
 प्रियतम का सुंदर 'घर' है,  
 जिसके चरणों को छूने  
 भुक गया वहाँ अंबर है।

उस पर्दे के पीछे ही  
 रहता क्या 'सत्य, अमर' है,  
 जिसकी छवि रवि-शशि से भी  
 सुंदर है, अजर, अमर है।

जिसके प्रकाश से होते  
 आलोकित रवि, शशि, तारे,  
 संचालित करते जग को  
 जिसके अविराम इशारे ।

कहते हैं, मुझे उसी ने  
 भेजा है जग-आँगन में ।  
 उसकी ही चंचल गति है  
 मेरे प्रत्येक चरण में ।

उसकी ही ध्वनि सुनते  
 सब अपने जीवन-पथ पर,  
 करता है वही प्रकाशित  
 जग के अधियारे अंतर ।

उसके ही हाथ सँजोते  
 दीपावलि शून्य गगन में,  
 उसके ही कर करते हैं  
 कलियाँ विकसित उपवन में ।

जाने को पार क्षितिज के  
 पथ पाना भी है दुस्तर,  
 बँध गया प्रेम-बंधन में  
 अवनी-अंबर का अंतर ।

मैं निकट पहुँचती जितनी  
 यह सीमा बढ़ती जाती ?  
 इस 'भूल भुलैयाँ' में ही  
 मति भ्रम के चक्कर खाती ।

क्या पंख फड़फड़ाते ही  
 बीतेगा सारा जीवन ?  
 क्या आँसू बरसाते ही  
 मुँद जावेंगे ये लोचन ?

अभिसार निशा का मेरा  
 असफल उद्भ्रांत हुआ है ।  
 रजनी बीती, पर उर का  
 तूफान न शांत हुआ है ।

किस ओर कहाँ जाना हैं  
 कुछ ठीक न मैं कर पाई ।  
 इस अंधकार में चल कर  
 सब रजनी व्यर्थ गँवाई ।

जग जाग-जाग कहता है,  
 “देखो यह पगली आई ।  
 इसकी आँखों में कैसी  
 उषा-सी लाली छाई !”

यद्यपि भरदी है मैंने  
आँसू से डाली-डाली,  
फिर भी पीड़ा की प्याली  
हो सकी न तिल भर खाली ।

वे पोत खोलते हैं सब,  
मैं ही क्यों रहूँ अकेली ?  
क्यों तट की लहरों ही से  
करती हूँ मैं अठखेली ?

बुझ गये सकल तरागण,  
छिप गया चंद्र शर्मा कर।  
कलियों के कानों में कुछ  
कहते हैं मधुकर गाकर।

अधखिले हृदय कलियों के,  
लखते जाप्रति के सपने।  
किस गहन गुफा में चलदी  
रजनी समेट पट अपने।

पलकें कमलों की खुजती,  
 कर उठे प्रकाश प्रभाकर ।  
 'मेरा सुख लूट लिया क्यों ?'  
 कहती कुमुदिनि मुरभाकर ।

किस सुख से पुलकित होकर  
 कर उठा विहग-दल कल-रव ?  
 मलयानिल हलके-हलके  
 चलता, हिलते हैं पल्लव ।

सरकी हैं निशा, उषा ने  
 अपनी पलकें हैं खोली ।  
 है किस 'अदृश्य' ने रवि के  
 पथ में छिड़की यह रोली ।

उपवन ने भी हिमकरण से  
 अपनी पलकें हैं धोली ।  
 मधुपों ने उर की तृष्णा  
 कलियों के उर से तोली ;

तम सोया तरुओं के तल  
बनकर हलकी-सी छाया,  
उड़ चले विहग, अंबर ने  
आह्वान-गान है गाया ।

पौ फटने के पहले ही  
मैंने है 'नौका' छोड़ी ।  
है अब 'अनंत के पथ पर'  
दिनकर से होड़ा-होड़ी ।

सब ओर भयंकर लहरें  
फैला यह जल ही जल है ।  
ऊपर वह नील गगन है,  
नीचे सागर का तल है ।

ले चली बहा कर लहरें  
किस ओर, कहाँ, किस तट पर ?  
सागर के उर में उमड़ा  
यह कैसा गान भयंकर ?

रँग रहा 'रक्त' के रँग में  
 ऊषा का मृदु मुसकाना ।  
 किसके 'इंगित' पर मुझको  
 है अपनी 'नाव' चलाना ?

कब रोक सका है कोई  
 यौवन की चंचल लहरें ?  
 मानस को मुक्त तरंगों  
 कैसे बंधन में ठहरें ?

मैं इस जीवन-नौका को  
 किस सागर में खे लाई ?  
 यों कब तक चल सकती है  
 लहरों से हाथापाई ?

फिर भी 'चिर सुन्दर' का शुभ  
 संदेश यहाँ तक आता,  
 उस नन्दन-वन का सौरभ  
 है पवन हृदय तक लाता ।

जो प्यास' हृदय में जागी  
 क्या रोके रुक सकती है ?  
 'चातक' की तृष्णा जग के  
 मरने से बुझ सकती है ?

छू स्वर्ण-रश्मियों ने उर  
 जाने क्या भाव जगाया ।  
 जाने किस 'मलयानिल' ने  
 मानस का कमल खिलाया ।

उन्मत्त हृदय है, मद की  
 दी पिला किसी ने प्याली।  
 आवेंगी फिर न कभी ये  
 घड़ियाँ प्यारी, मतवाली।

ऐ हृदय, आज बहने दे  
 'नौका' को मोंके खाती।  
 आने दे यदि आती है  
 'आँधी' तूफ़ान उठाती।

'सीमा' के बंधन टूटे,  
 'चेतना' लुप्त है मेरी।  
 मैं आँखें मूँद बढूँगी  
 लहरों पर 'सागर' तेरी।

कितनी 'नौकाएँ' डूबी  
 'भव-कूल' नहीं है पाया,  
 फिर भी मैंने इस जर्जर  
 'तरणी' को आज बहाया।

वह रवि कहता है, “पगली  
 इसका है कहाँ किनारा” ?  
 इस ‘उदय-अस्त’ में मेरा  
 बीता है जीवन सारा ।

‘मैं उठता-गिरता फिरता  
 इस पथ में मारा-मारा,  
 पर फल न मिला है कुछ भी,  
 हो भी कुछ ‘कूल-किनारा’ !

“मैं नित्य जहाँ से चलता  
 आ जाता वहीं ‘सबेरे’।  
 ऐसे ही व्यर्थ गगन में  
 देता रहता हूँ फेरे।

“पा जाता पार क्षितिज का  
 पर पुनः क्षितिज आ जाता।  
 ‘अवसान’ जिसे कहते हैं  
 है वही ‘उदय’ कहलाता।

“जिसके ‘वियोग’ की मेरे  
 प्राणों में जलती ज्वाला,  
 क्या जग में जनमा कोई  
 उसका ‘पथ’ पाने वाला।

“जब ‘एकाकार’ बनेंगे  
 घुल-मिलकर ‘साँझ-सबेरे’  
 जिस दिवस शांत होगी यह  
 ‘ज्वाला’ अन्तर की मेरे,

“जब होगा शून्य जगत सब  
अपना अस्तित्व मिटाकर,  
तब अपने आप मिलेंगे  
सब उस ‘अनंत’ में जाकर।

“है वही ‘मुक्त’ कर सकता  
जिसने जग-जाल बिछाया।  
यह वही मिटा सकता है  
जिसने यह खेल बनाया।

“जिसकी इच्छा की विस्तृत  
सागर भी एक लहर है,  
उस छवि के दर्शन पाने  
लोचन पाना दुस्तर है।

“कितना ही ऊँचा कोई  
चढ़ जाए इस अंबर में।  
वह उसे ‘गिरा’ देता है  
अवनी पर फिर पल भर में।

है आज प्रतीक्षा-पथ का  
 कण-कण क्यों इतना प्यारा-?  
 जब इस 'अनंत-यात्रा' का  
 मिलता ही नहीं किनारा ।

क्यों छोड़ न आशा सारी  
 रवि का रथ भी रुक जाता ?  
 वह नित्य नई लाली ले  
 क्यों अंबर में है आता ।

युग-युग तक उसके पथ पर  
 चलना क्यों इतना भाता ?  
 क्यों यह 'रहस्य का पर्दा'  
 कौतूहल अधिक जगाता ?

•  
 मैं एक बूंद हूँ जिसकी  
 क्या उस में नहीं मिलूँगी ?  
 मैं तुहिन-बिंदु-सी कब तक  
 'पत्तों' पर व्यर्थ हिलूँगी ।

‘पतवार’ छोड़ कर क्या अब  
 वीणा के तार बजाऊँ ?  
 क्या ‘सर्वनाश’ के स्वर में  
 अब अपनी तान मिलाऊँ ?

क्या अपने ही प्राणों को  
 मैं ‘जीवन-गीत’ सुनाऊँ ?  
 क्या उस अनंत को उर की  
 पीड़ा में ही पा जाऊँ ?

“कितनी ‘नौकाँ’ निशि-दिन  
 ‘सागर’ पर बहती रहती,  
 उन से ‘विनाश’ की गाथा  
 आ आकर लहरें कहती ।

“तू अपनी जर्जर ‘नौका’  
 क्यों खेती व्यर्थ अकेली,  
 जब मुलझाने वाला है  
 आ अंत ‘अनंत’ पहेली ।”

वे फूल कूल दुनिया का  
 क्यों पूछ रहे हैं सारे ?  
 सागर उड़ता है ऊपर  
 क्यों अपने पंख पसारे ?

अपने-अपने विटपों का  
 सब विहग बृन्द अब तज कर  
 उड़ चले, उषा का मधुमय  
 कल-रव से अभिनंदन कर ।

जाग्रति में, बेहोशी में  
जागे वह प्यारा सपना ।  
आँखों में घूम रहा हो  
चिर-सुंदर प्रियतम अपना ।

विश्वास हृदय में पूरा  
चातक-सी 'प्यास' जगी हो,  
दुर्लभ कुछ नहीं मुझे यदि  
सरिता-सी लगन लगी हो ।

हाँ, तिरती रहो 'तरणिका'  
तुम ऐसे ही सागर में,  
उठती ही रहो 'उमंगों'  
तुम ऐसे ही अंतर में ।

आघात लगे लहरों के  
छिड़ जायँ 'प्रलय' के गाने,  
पर, चलती रहूँ सदा ही  
प्रियतम का दर्शन पाने ।

अंचल को नभ में, चंचल  
 आ आकर मलय उड़ावे।  
 उस पार क्षितिज से मुझको  
 वह नित्य 'निमंत्रण' लावे।

दुख-विपदा की घन-माला  
 चाहे घिर-घिर कर आवे,  
 मैं डरूँ नहीं यदि आँधी  
 भीषण 'तूफान' उठावे।

मेघों के कालेपन से  
 ओझल होवे प्रह-माला,  
 प्रियतम का स्नेह हृदय में  
 पर करता रहे उजाला।

'अभिसार' विफल जीवन का  
 क्या सफल न होगा पूरा ?  
 देखूँ क्या गान व्यथा का  
 टूटेगा सदा अधूरा ?

है यह रहस्य भी प्यारा,  
 रह गुप्त सदा हृदयेश्वर,  
 पर, रखना सदा प्रकाशित  
 अपनी स्मृति से यह अंतर ।

यदि यह रहस्य का पर्दा  
 ओभल हो जावे प्यारा,  
 जग—एक कल्प की रचना—  
 मिट जावे पल में सारा ।

जग में ये 'जाल' मनोहर  
 यदि नहीं बिछाए 'माया',  
 तो 'खेल' बिगड़ जाए सब  
 युग-युग का बना-बनाया ।

यदि कृष्ण-पक्ष का जग में  
 होता न अँधेरा काला,  
 तो आदर पाता जग में  
 क्यों ज्योत्स्ना का उजियाला ।

दुख, व्यथा, वेदनाओं की  
 ज्वाला में जल-जल जीवन,  
 कर भस्म कालिमा मन की  
 कंचन-सा बनता पावन ।

जग-रंग-मंच पर अभिनय  
 कर सुख-दुख के नित नूतन,  
 पर भूल न जाए उसको  
 जो सूत्रधार चिर-चेतन ।

जो जग-मग ज्योति जगाता  
 रहता जग के कण-कण में,  
 वह क्यों न करेगा 'क्रीड़ा'  
 मेरे भी व्याकुल मन में ?

आशा है एक दिवस तो  
 चमकेंगी 'किरणों' उज्वल ।  
 तब तक लहरों पर तरणी  
 तिरती रहने दूँ अविरल ।

वंशी में फँसे हुए से  
लोचन हों उसमें अटके,  
सागर के परले तट से  
वह रूप लगभवे भटके।

वह 'विश्व-गीत का गायक'  
मतवाली 'तान' सुनावे,  
उस की ही 'लय' में मेरी  
'वीणा' का स्वर मिल जावे।

उरकी तरंग-माला का  
 हो अंबर से आर्लिगन।  
 अब प्रेम-उदधि में मेरा  
 डूबे सब तन, मन, जीवन।

यदि भूल जगत् की स्मृति को  
 अपना भी ज्ञान भुलाऊँ,  
 प्रियतम सागर-सा उमड़े,  
 मैं सरिता सी मिल जाऊँ।

नाविक बन जीर्ण तरी को  
 वह आकर स्वयं सम्हाले।  
 इस विकल विरहिणी को वह  
 पुलकित हो गले लगाले।

फिर स्वयं पकड़ मेरा कर  
 ले जावे वह लीलाधर,  
 अपने शुचि स्वर्ण-सदन में  
 दे स्थान मुझे भी सुखकर।

है 'गान' गूँजता उसका  
 इस सागर के गर्जन में ।  
 है प्रेम फूलता उसका  
 मरु-भूमि-समान विजन में ।

जो घने 'अँधेरे में' आ  
 आलोकित करता अन्तर,  
 क्यों नहीं "प्रकाश" करेगा  
 वह मेरे जीवन-पथ पर ?

युग—युग तक मेरी नौका,  
 लहरों पर ही लहरावे,  
 पर दुर्दिन की आँधी में  
 स्मृति-दीप न बुझने पावे ।

उस जीवन-धन का चिंतन  
 बनकर सुस्थिर ध्रुव-तारा,  
 उस पथ की ओर निरंतर  
 करता ही रहे इशारा ।

वह गर्जन-तर्जन करता  
 है लहर प्रलय की आती,  
 जिसकी आहट से थर-थर  
 कँपती सागर की छाती

मानों, उसके पंखों पर  
 सोने का मुकुट लगा कर  
 जल पर क्रीड़ा करने को  
 आ रहा आज लीलाधर

वह छिप न सकेगा, उर की  
 आँखों का पट खुल जावे,  
 यदि उसे प्राप्त करना है  
 अपने को हृदय भुलावे।

मेरी उत्सुकता श्रिय की  
 पल-पल पर आहट पावे,  
 मैं बुरा न मानूँगी यदि  
 वह भ्रम के जाल बिछावे।

युग-युग तक ठगे भले ही  
 जीवन का भाग्य-विधाता,  
 मेरा कौतूहल गावे,  
 'वह प्राणेश्वर है आता'।

अब अतल सिंधु में चाहे  
 यह 'तरणी' डूबे जाकर,  
 चिर-मग्न मुझे भी कर ले  
 चाहे अथाह रत्नाकर.

बन शूल, विरह की पीड़ा  
 नित मेरा हृदय दुखावे,  
 मैं कुछ न कहूँगी मुझको  
 कलियों-सा कुचला जावे ।

चल 'मलय' भले ही उर में  
 फूलों-से धाव खिलावे ।  
 यदि कभी उड़ाकर उसके  
 चरणों पर मुझे चढ़ावे ।

मैं 'उफ' न करूँगी, पतझड़  
 की वायु मुझे झुलसावे,  
 यदि कभी तोड़कर प्रियतम  
 पल भर भी हृदय लगावे ।

इस 'यात्रा' की असफलता  
 आशा की ज्योति जगावे  
 सब सह लूँगी कैसी भी  
 जीवन में 'आँधी' आवे

मुझको ही अपनाने को  
 क्या आता है करुणाकर ?  
 मैं कैसे शीघ्र पहुँच कर  
 गिर जाऊँ उन चरणों पर ।

यदि किसी लहर का भौंका  
 बालू के सूने तट पर,  
 दे पटक, घड़ी भर में ही  
 सागर से मुझे उठा कर,

मैं कुछ न कहूँगी तब भी,  
 फिर नूतन 'नाब' बनाकर,  
 फिर नई उमंगे लेकर,  
 चल दूँगी इस यात्रा पर ।

बन लहर सिंधु की चंचल  
 टकराती औ' बल खाती,  
 क्या तट न हृदय-धन का मैं  
 बू पाऊँगी इठलाती ?

मैं करुण गान का कंपन  
 बन कर, समीर पर चढ़कर,  
 पल भर भी कर न सकूँगी  
 क्या आकुल उसका अंतर ?

मैं अतल सिंधु में डूबूँ,  
 मेरी आँखें मुँद जावें,  
 नौका, पतवार, जगत की  
 आँखों से यदि छिप जावें,

क्या उस चिर-निद्रा में भी  
 वह मिल न सकेगा धारा ?  
 क्या वह गँभीर सपना भी  
 भूठा निकलेगा सारा ?

जग की चिर निद्रा मुझको  
 चिर-जाग्रति है आलोकित,  
 जब आँखें मुँदती दिखती  
 वह छवि, रवि जिस पर मोहित ।

जल, थल, अंबर में उसने  
 अपना अंचल फैलाया,  
 है एक बात ही तल में  
 डूबी, या तट को पाया ।

प्रिय की स्मृति ! शशि-सी, उर में  
 तूफान उठाती रहना,  
 कुछ सरल नहीं होगा क्या  
 तब इस नौका का बहना ?

हो उदय सूर्य-सा नभ में  
 उर-कली खिलावे सुंदर,  
 तो चढ़ न सकूँगी उसके,  
 क्या किसी दिवस, चरणों पर ?

यदि सुख-दुख के भोंकों में  
 उर उसको भूल न जावे,  
 तो क्या 'अदृश्य-कर' बढ़ कर  
 मुझको न कभी अपनावे ।

रवि के रथ सी ही मेरी  
 यदि नौका चले निरंतर,  
 तो देखूँ, उसमें मुझमें  
 रह सकता कितना अंतर ।

जो पहुँचाये उस तट पर  
 वह लहर झगुँ आवेगी,  
 तब तक यह जर्जर तरणी  
 लहरों पर लहरावेगी ।

यह हृदय-गगन भी होगा  
 उस 'महातेज' से रंजित,  
 मेरी 'यात्रा' है उसके  
 गीतों से ही अभिनंदित ।

जब 'अंधकार माया का'  
 आँखों से हट जाएगा ।  
 तब उसके स्वर्ण-महल का  
 क्या द्वार न दिख पाएगा ?

वह कितनी दूर कहाँ है,  
 इसका क्या पता लगाऊ ?  
 केवल इच्छा है इसनी  
 में ज़रमों ही मिल जाऊँ ।

शत-शत पथ उस प्रियतम के  
 यह जगती बतलाती है,  
 उन पर अबोध मति चल कर  
 भ्रम-तम में खो जाती है ।

वह कभी हृदय के भीतर  
 ही गाने लगता गाने,  
 फिर भी यह हृदय भटकता  
 है उसके दर्शन पाने । .

वह क्या है इसका जग को  
 अब तक कुछ ज्ञान नहीं है ।  
 वह आकर फिर जाता है,  
 उसकी पहचान नहीं है ।

वह रूप बना भिजूक का  
 है भीख माँगने आता,  
 दे भेंट गलियों की जग  
 है घर से उसे भगाता ।

वह रूप कोढ़ियों का रख  
 पथ पर है 'आहे' भरता,  
 पर जगत् दंभ के कारण  
 उस ओर न आँखें करता ।

मुझको भी धोखा देता  
 है क्यों अमरों का स्वामी ?  
 क्यों 'रूप' नहीं दिखलाता  
 जीवन-धन, अंतर्यामी ?

यह द्वैत-भाव का पर्दा,  
 पहुँचाता मुझको पीड़ा,  
 दोनों का जीवन मिलकर  
 अब करे एक में क्रीड़ा।

इच्छा होती है तोहूँ  
 अब 'तू मैं' की दीवारें ।  
 द्रुत तोड़ द्वैत के गिरि को  
 मिल जावें दोनों धारें ।

यह 'तरणी' भी बंधन है,  
 'पतवार' भुलावा प्यारा,  
 इन लकड़ी के टुकड़ों से  
 मिल सकता कहीं किनारा !

जप, तप, पूजन, व्रत, साधन,  
 दिखता सब अभिनय भ्रम का ।  
 समझा न रूप प्रियतम का,  
 कब पर्दा हटता तम का !

मैं किन आँखों से देखूँ  
 अपनी आँखों का 'तारा' !  
 आलोकित मेरे चर का  
 अब प्रिय करदे उजियारा ।

क्यों अंधकार में केवल  
 मैं गिनुँ गगन के तारे ।  
 ये अस्थिर जगमग दीपक  
 भ्रम की छाया हैं सारे ।

“तरणी” को छोड़ यहीं पर  
 मैं लहरूँगी लहरी बन ।  
 नभ में बन पवन बहूँगी,  
 मैं तोड़ जगत् के बन्धन ।

इस तन के कारागृह का  
 वह कोट गिरा मैं दूँगी  
 वह गले लगा लेगा, जब  
 ‘अपनापन’ भूलूँगी ।

यह एक ‘बून्द’, जब अपना  
 ‘अस्तित्व’ मिटा डालेगी,  
 तब महासिंधु में मिलकर  
 लहरों में लहरावेगी ।

जग जिसको दीप समझता  
 वह केवल भ्रम की छाया,  
 ऐश्वर्य प्राप्त करने की  
 धुन में अमरत्व गँवाया ।

मैं छोड़ जगत की माया  
 इतने आगे बढ़ आई,  
 उसका अनुराग हृदय में  
 चमका, वह दिया दिखाई ।

मैं भूल न जाऊँ उसको  
 जग आँखों से हट जाए,  
 उसका ही 'प्रेम' निरंतर  
 यह 'जीवन-तरी' चलाए ।

मैं अपनी अभिलाषाएँ  
 करती हूँ उसे समर्पित ।  
 जोपे वही हूँ सुख-दुख  
 सब पाप-पुण्य धिर-अर्जित ।

‘तम का पर्दा’ आँखों पर  
 बादल-सा सघन पड़ा है,  
 रत्नों से जड़ा उसी के  
 पीछे वह महल खड़ा है।

उज्वल शशि-से आनन पर  
 मेघों-सा घूँघट ढाले,  
 छिप रहता है, रखता है  
 वह छिपा अमृत के प्याले।

मुसकान इंद्रधनु-सी मृदु  
 स्रत-रंगी जलद-पटल पर,  
 आभास मनोहर छवि का  
 देती रहती, चिर-सुंदर ।

काले-काले बादल-दल  
 करते जग में अधियारा,  
 वह बरसाता उनसे भी  
 शुचि स्नेह-सलिल की धारा ।

घूँघट-पट भी प्रियतम का  
 लगता है कितना प्यारा ?  
 हो मुग्ध मोर-सा नर्तन  
 कर उठता है जग सारा ।

जो भीम-भयंकर स्वर में  
 करता है गर्जन तर्जन,  
 उससे भी चातक-सा मन  
 पा जाता स्नेह-स्वाति-कण ।

मेरे आकुल प्राणों को  
 उसने जो बृंद पिलाई—  
 वह निर्मल मोती बन कर  
 आँखों में आज समाई ।

इन वाह्य क्षुत्रों में तो  
 जल-प्लावन सा है आया,  
 खुले गये नयन अंतर के,  
 अब उसने रूप दिखाया ।

बुझ गये सूर्य, शशि, तारे,  
 हट गये सिंधु, भू, अंबर ।  
 रुक गई यहीं पर नौका,  
 मिट गया यहीं पर अंतर ।

युग-युग से जो 'तरणी' ले  
 मैं उसे खोजने आती ।  
 मिल गई उसी में उसकी  
 प्रिय मूर्ति मधुर मुसकाती ।

जीवन का जीवन बन कर,  
वह साँस साँस की बन कर,  
है साथ—साथ ही रहता—  
चितवन की चितवन बन कर ।

अपना ही पथ तो मुझको  
बन गया अनंत अगम था ।  
मैं समझ नहीं पाई थी,  
मुझ में मेरा प्रियतम था ।







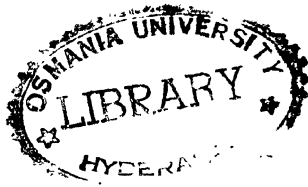




प्रथमावृत्ति

१९५६

मूल्य तीन रुपया



प्रकाशक : लोक प्रकाशन, नई दिल्ली

मुद्रक : दीपक प्रिंटिंग प्रेस, गली हकीम बका, चावड़ी बाजार, दिल्ली

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

को

सादर



